

बिगुल पुस्तिका-9

संशोधनवाद के बारे में

सम्पादन
'बिगुल' सम्पादक-मण्डल



राहुल फ़ाउण्डेशन
लखनऊ

ISBN 978-81-906415-1-7

मूल्य : रु. 5.00

प्रथम संस्करण : जनवरी, 2008

प्रकाशक : राहुल फ़ाउण्डेशन
69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : रामबाबू

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ

Sanshodhanvaad Ke Bare Mein

इस पुस्तिका के बारे में

भाकपा, माकपा और भाकपा (मा-ले) जैसी पार्टियों का नकली कम्युनिज़्म काफ़ी पहले ही बेनकाब हो चुका था। बंगाल-केरल-त्रिपुरा से लेकर केन्द्र तक इनकी राजनीति का चरित्र लोगों के सामने है। लेकिन बात सिर्फ़ इन्हीं पार्टियों की नहीं है। सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी से लेकर समाजवादी संक्रमण की लम्बी अवधि के दौरान संशोधनवाद नये-नये रूपों में लगातार क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन में घुसपैठ करता रहता है। मज़दूर आन्दोलन में बुर्जुआ विचारधारा और राजनीति की यह घुसपैठ स्वाभाविक है। दुश्मन सामने से लड़कर जो काम नहीं कर पाता, वह घुसपैठियों और भितरघातियों के ज़रिये अंजाम देता है। संशोधनवाद के प्रभाव के विरुद्ध सतत संघर्ष करने और उस पर जीत हासिल किये बिना सर्वहारा क्रान्ति की सफलता असम्भव है। इसलिए संशोधनवादी राजनीति की पहचान बेहद ज़रूरी है। इस विषय पर लेनिन, स्तालिन और माओ ने काफ़ी कुछ लिखा है। हमने यहाँ मोटे तौर पर, एकदम संक्षेप में और एकदम सरल ढंग से संशोधनवादी राजनीति और संशोधनवादी पार्टियों के चरित्र के लक्षणों एवं विशेषताओं को खोलकर रखने की एक कोशिश की है। साथ ही, भारत में संशोधनवादी राजनीति का एक संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

25.1.2008

— 'बिगुल' सम्पादक-मण्डल

संशोधनवाद और मार्क्सवाद : बुनियादी फ़र्क़

मज़दूर साथियो! असली और नक़ली कम्युनिज़्म में फ़र्क़ करना सीखो!

इतिहास में किसी भी नूतन सामाजिक व्यवस्था के जन्म में बल की भूमिका बच्चा पैदा कराने वाली धाय माँ की होती है। प्रकृति हो या समाज, मौजूदा स्थिति को बदलने के लिए बल लगाना अनिवार्य होता है। आदिम कम्यूनों के ज़माने से लेकर आज तक का पूरा इतिहास वर्ग-संघर्षों और क्रान्तियों का इतिहास रहा है। वर्ग-संघर्ष ही अब तक के इतिहास-विकास की मूल चालक शक्ति रही है। वर्ग-सहयोग दो परस्पर विरोधी वर्गों के बीच के टकराव में, किसी पराजित वर्ग की सर्वथा तात्कालिक बेबसी हो सकती है या पराजय के दिनों का एक आभासी सत्य हो सकता है, लेकिन वह वर्गों की सामान्य प्रकृति या किसी भी वर्ग-समाज का आम नियम नहीं हो सकता। किसी भी वर्ग-समाज के बुनियादी आर्थिक नियम इसकी इजाज़त ही नहीं देते।

अर्थव्यवस्था पर प्रभुत्व रखने वाले वर्ग का केन्द्रीय व सर्वोच्च राजनीतिक संगठन राज्यसत्ता होता है जिसका उद्देश्य विद्यमान सामाजिक आर्थिक ढाँचे को बनाये रखना और दूसरे वर्गों के प्रतिरोध को कुचल देना होता है। उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व पर आधारित समाज में राज्यसत्ता सदैव सत्ताधारी शोषक वर्ग की तानाशाही का औज़ार होती है तथा शोषित जनसाधारण के दमन के लिए एक विशेष शक्ति होती है, चाहे सरकार का रूप कुछ भी हो।

जनवाद (या जनतन्त्र या डेमोक्रेसी) कोई वर्गमुक्त या समतामूलक व्यवस्था नहीं होती, जैसाकि बुर्जुआ किताबों में बुर्जुआ जनवाद के बारे में प्रायः लिखा जाता है। बुर्जुआ जनवाद अपने सार रूप में आम जनता पर बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व होता है। यह मेहनतकशों और बुद्धिजीवियों को इतनी ही आज़ादी देता है कि वे बाज़ार में अपनी शारीरिक श्रमशक्ति और मानसिक श्रमशक्ति बेचकर जीवित रह सकें। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी समाज में जनता को जो भी आज़ादी और अधिकार हासिल हैं, उन्हें जनता ने अपने लम्बे संघर्षों और कुर्बानियों के द्वारा हासिल किया है। शेष जो भी है, वह आज़ादी के नाम पर भ्रामक छल है। बुद्धिजीवियों के उस ऊपरी तबके को ज़्यादा सुख-सुविधा और आज़ादी हासिल होती है जो राजकाज और उत्पादन के ढाँचे के

प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी उठाकर पूँजीपति वर्ग की सेवा करता है। ये ऊपरी तबक़े के पढ़े-लिखे लोग वास्तव में हुकूमती जमात के ही अंग बन जाते हैं। भारत हो या अमेरिका, किसी भी पूँजीवादी जनवाद में, सेना-पुलिस और ज़ोर-ज़बरदस्ती के अन्य साधन राज्यसत्ता के केन्द्रीय उपादान होते हैं। बर्जुआ चिन्तक-विचारक व्यवस्था को चलाने के नियम-क़ानून बनाते हैं और नौकरशाही उन्हें अमल में लाती है। सरकारों की भूमिका महज़ पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी की होती है। संसद मात्र बहसबाजी का अड्डा होती है, मात्र दिखाने के दाँत होती है। वास्तविक फ़ैसले तो पूँजीपतियों के सभाकक्षों में लिये जाते हैं। सरकारें और नौकरशाही उन्हें अमली जामा पहनाती हैं। पूँजी और राजकीय बल के बूते सम्पन्न होने वाले पूँजीवादी संसदीय चुनाव मात्र यह तय करते हैं कि बर्जुआ वर्ग की कौन-सी पार्टी अब बर्जुआ वर्ग की मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करेगी।

राज्य के सन्दर्भ में मज़दूर वर्ग का मुख्य कार्यभार बर्जुआ राजकीय कार्ययन्त्र – यानी राज्यसत्ता को चकनाचूर करके समाजवादी जनवाद के रूप में एक नया राजकीय कार्ययन्त्र स्थापित करना होता है जो उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व कायम करता है और वर्ग-शोषण के खात्मे की दिशा में आगे क़दम बढ़ाता है। समाजवादी जनवाद भी वर्गमुक्त नहीं होता। वह सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व होता है। वह भी बल-प्रयोग का ही उपकरण होता है, पर वह शोषक वर्गों की पूर्ववर्ती राज्यसत्ताओं से इन अर्थों में भिन्न होता है कि वह सभी मेहनतकशों और विशाल आम जनता के हित में काम करता है और अल्पसंख्यक शोषक वर्गों के विरुद्ध बल का प्रयोग करता है। समाजवादी संक्रमण की लम्बी अवधि में आगे जब वर्गों और वर्ग-शोषण के सभी रूपों का विलोप होगा तो सर्वहारा राज्यसत्ता का भी विलोपन होता चला जायेगा।

मोटे तौर पर और संक्षेप में, राज्य और क्रान्ति के बारे में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के यही बुनियादी सिद्धान्त हैं, जिनमें नक़ली कम्युनिस्ट तरह-तरह से तोड़-मरोड़ किया करते हैं और इसलिए उन्हें संशोधनवादी कहा जाता है। लेनिन के अनुसार, संशोधनवाद का मतलब होता है मार्क्सवादी ख़ोल में पूँजीवादी अन्तर्वस्तु। संशोधन-वादी, किसी न किसी रूप में, कभी खुले तौर पर तो कभी भ्रामक शब्दजाल रचते हुए, वर्ग-संघर्ष के बुनियादी ऐतिहासिक नियम को ख़ारिज करते हुए वर्ग-सहयोग की वकालत करते हैं, बल-प्रयोग और राज्यसत्ता के ध्वंस की ऐतिहासिक शिक्षा को नकार देते हैं और क्रान्ति के बजाय शान्तिपूर्ण संक्रमण की वकालत करते हैं, या फिर क्रान्ति शब्द को शान्तिपूर्ण संक्रमण का पर्याय बना देते हैं। संशोधनवादी इस सच्चाई को नकार देते हैं कि इतिहास में कभी भी शोषक-शासक वर्गों ने अपनी मर्जी से सत्ता त्यागकर खुद अपनी क़ब्र नहीं खोदी है और कभी भी उनका हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है।

- संशोधनवाद बुर्जुआ सुधारवाद का ही नया रूप है और क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन में घुसपैठिये की भूमिका निभाने वाली दक्षिणपन्थी अवसरवादी विचारधारा है।
- संशोधनवाद द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद में तोड़-मरोड़ करता है तथा उसे नवकाण्टवाद से मिला देता है।
- संशोधनवाद का मतलब है मार्क्सवाद के खोल में पूँजीवादी राजनीति।
- वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति की जुगाली करते हुए भी संशोधनवाद अलग-अलग ढंग से (कभी खुले रूप में तो कभी घुमा-फिराकर, कपटपूर्वक) वर्ग-सहयोग और शान्तिपूर्ण संक्रमण के सिद्धान्त पर आचरण करता है।
- संशोधनवाद मजदूर वर्ग की चेतना को मात्र आर्थिक संघर्षों व ट्रेडयूनियन के दायरे के भीतर क़ैद रखता है तथा उसे पूँजीवाद के नाश के ऐतिहासिक मिशन की दिशा में ले जाने के बजाय उससे दूर हटाता है।
- संशोधनवाद पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति के रूप में काम करता है। यह जनाक्रोश के दबाव को रस्मी आन्दोलनों के ज़रिये कम करने वाले व्यवस्था के सेफ्टीवॉल्व के रूप में काम करता है।
- संशोधनवादी पार्टियों का मूल लक्ष्य चूँकि क्रान्ति नहीं होता, चूँकि 'क्रान्ति-क्रान्ति' का तोतारटन्त करते हुए इन्हें मात्र संसदीय सुअरबाड़े में लोट लगाना होता है और ट्रेडयूनियनों में मजदूरों पर ही हुकूमत गाँठना होता है, चूँकि पूँजीवादी संविधान और क़ानून के प्रति इनकी निष्ठा अटूट होती है, इसलिए इनका चरित्र क्रान्तिकारी नहीं होता, ये चवन्निया मेम्बरी वाले ढीले-पोले मण्डली जैसे होते हैं, इनका कोई गुप्त ढाँचा नहीं होता, ये पूरी तरह से बुर्जुआ हुकूमत के रहमो-करम पर जीने वाले टुकड़खोर होते हैं।

आमतौर पर संशोधनवादियों का तर्क यह होता है कि बुर्जुआ जनवाद और सार्विक मताधिकार ने वर्ग-संघर्ष और बलात् सत्ता-परिवर्तन के मार्क्सवादी सिद्धान्त को पुराना और अप्रासंगिक बना दिया है, पूँजीवादी विकास की नयी प्रवृत्तियों ने पूँजीवादी समाज के अन्तरविरोधों की तीव्रता कम कर दी है और अब पूँजीवादी जनवाद के मंचों-माध्यमों का इस्तेमाल करते हुए, यानी संसदीय चुनावों में बहुमत हासिल करके भी समाजवाद लाया जा सकता है। ऐसे दक्षिणपन्थी अवसरवादी मार्क्स और एंगेल्स के जीवनकाल में भी मौजूद थे, लेकिन इस प्रवृत्ति को आगे चलकर अधिक व्यवस्थित ढंग से बर्नस्टीन ने और फिर काउत्स्की ने प्रस्तुत किया। लेनिन के समय में इन्हें संशोधनवादी कहा गया। लेनिन ने रूस के और समूचे यूरोप के संशोधनवादियों के खिलाफ़ अनथक समझौताविहीन संघर्ष चलाया और सर्वहारा क्रान्ति के प्रति उनकी गद्दारी को बेनकाब किया।

सभी प्रकार के संशोधनवादी क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के विभीषण, जयचन्द और मीरज़ाफ़र होते हैं। वे मज़दूर आन्दोलन में बुर्जुआ वर्ग के एजेण्ट का काम करते हैं। वे पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति का काम करते हैं। ये मज़दूर वर्ग के सामने खड़े खुले दुश्मन से भी अधिक ख़तरनाक होते हैं। संशोधनवादी पूँजीवादी संसदीय राजनीति को ही व्यवस्था-परिवर्तन का माध्यम तो मानते ही हैं, साथ ही मज़दूर वर्ग को राज्यसत्ता के ध्वंस के लक्ष्य से दूर रखने के मक़सद से, वे उनके बीच न तो क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार करते हैं, न ही उनके राजनीतिक संघर्षों को आगे विकसित करते हैं। राजनीति के नाम पर बस वे चुनावी राजनीति करते हैं और मेहनतकश जनता का इस्तेमाल मात्र वोट बैंक के रूप में करते हैं। ये पार्टियाँ और इनकी ट्रेडयूनियनें प्रायः मज़दूरों को वेतन-भत्ते आदि की माँगों को लेकर चलने वाले आर्थिक संघर्षों में ही उलझाये रहती हैं और उनकी चेतना को पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दी में बाँधे रखती हैं। प्रायः सीधे-सीधे या घुमा-फिराकर ये यह तर्क देती हैं कि आर्थिक संघर्ष ही आगे बढ़कर राजनीतिक संघर्ष में बदल जाता है। इसके विपरीत सच्चा लेनिनवाद बताता है कि आर्थिक संघर्ष इस व्यवस्था के भीतर मज़दूर वर्ग को संगठनबद्ध होकर अपनी माँगों के लिए लड़ना सिखाता है, लेकिन वह स्वयं विकसित होकर राजनीतिक संघर्ष नहीं बन जाता। मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और राजनीतिक संघर्ष में उसे उतारने का काम आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ शुरू से ही करना होता है। इस तरह अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ते हुए मज़दूर वर्ग बुर्जुआ राज्यसत्ता को चकनाचूर करने के अपने ऐतिहासिक मिशन को समझता है और उस दिशा में आगे बढ़ता है। मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी सर्वहारा वर्ग के हरावल के रूप में इस काम में नेतृत्वकारी भूमिका निभाती है। संशोधनवादी पार्टियाँ जन संघर्षों को मात्र आर्थिक संघर्षों तक सीमित कर देती हैं और राजनीति के नाम पर केवल वोट बैंक की राजनीति करती हैं।

क्रान्ति के लिए इस्पाती साँचे में ढली पार्टी की ज़रूरत और उसकी कार्यप्रणाली आदि के बारे में लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्त को सुसंगत और सांगोपांग रूप में विकसित किया। इन्हें संगठन के लेनिनवादी उसूलों के रूप में या बोल्शेविक सांगठनिक उसूलों के रूप में जाना जाता है। लेनिन का विचार था कि शोषक वर्गों की सुसंगठित राज्यसत्ता से टकराने के लिए सर्वहारा वर्ग की उतनी ही सुसंगठित इन्क़लाबी शक्ति की ज़रूरत होती है। इसीलिए एक क्रान्तिकारी पार्टी शुरू से ही इस बात की पूरी तैयारी रखती है कि वक्त पड़ने पर वह दुश्मन के हर हमले का सामना करके खुद को बिखरने से बचा सके, अन्यथा जनता नेतृत्वविहीन हो जायेगी। जाहिर है कि जिस पार्टी का लक्ष्य इस व्यवस्था को नष्ट करने के लिए राज्यसत्ता से टकराना है, वह एकदम खुले दरवाज़े से भर्ती करने वाली, चवन्निया मेम्बरी बाँटने वाली एक “जन पार्टी” नहीं हो सकती। उसे बहुत छॉट-बीनकर क्रान्तिकारी भर्ती करनी होगी। ऐसी पार्टी केवल तपे-तपाये, अनुशासित, कर्मठ कार्यकर्ताओं की ही पार्टी हो सकती है, जिसके मेरुदण्ड के रूप में पेशेवर क्रान्तिकारियों (पूरावक्ती संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं) की टीम हो। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों का मत था कि पार्टी सदस्यता केवल ऐक्टिविस्टों के स्तर तक, यानी पार्टी की विचारधारा और लाइन को मानकर उसके किसी न किसी संगठन में काम करने वालों को ही दी जानी चाहिए, जबकि मार्तोव के नेतृत्व में मेशेविकों का कहना था कि जो भी पार्टी की लाइन को स्वीकार करके सदस्यता शुल्क भर दे, उसे सदस्यता दी जा सकती है। लेनिन का कहना था कि ऐसी ढीली-ढाली पार्टी एक संगठित दस्ते के रूप में सर्वहारा क्रान्ति को नेतृत्व नहीं दे सकती।

लेनिन का कहना था कि एक सच्ची क्रान्तिकारी पार्टी पूँजीवादी जनवाद की स्थितियों का लाभ तो उठायेगी, लेकिन अधिकतम पूँजीवादी जनवाद की स्थिति में भी वह पूरी तरह से खुले ढाँचे वाली पार्टी नहीं हो सकती। इसका मतलब होगा, अपने को बुर्जुआ वर्ग और उसकी राज्यसत्ता की मर्जी पर छोड़ देना। अस्तित्व का संकट पैदा होते ही कोई भी बुर्जुआ राज्यसत्ता बुर्जुआ जनवाद को पूर्णतः निरस्त करके बर्बर दमनकारी बन जाती है और क्रान्ति को कुचल डालने के लिए निर्णायक चोट सर्वहारा के हरावल दस्ते पर ही करती है। एक सच्ची क्रान्तिकारी पार्टी तमाम खुले और क़ानूनी संघर्षों में भागीदारी करते हुए हर कठिनाई के लिए तैयार रहती है और अपना गुप्त ढाँचा अनिवार्यतः बरकरार रखती है। परिस्थिति अनुसार वह संघर्ष के उन रूपों को भी अवश्य अपनाती है जो बुर्जुआ संविधान और क़ानून को स्वीकार नहीं होते। आर-पार की फ़ैसलाकुन लड़ाई का लक्ष्य हर हमेशा उसके सामने होता है और शासक वर्ग के साथ उसकी हर झड़प और हर लड़ाई उसी की तैयारी की कड़ी होती है। बुर्जुआ संसद और संसदीय चुनावों के बारे में भी मार्क्सवाद का नज़रिया बिल्कुल साफ़ है। पर्याप्त आधार एवं ताक़त वाली कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी अपने लक्ष्य एवं कार्यक्रम

के प्रचार के लिए तथा बुर्जुआ व्यवस्था के भण्डाफोड़ के लिए संसदीय चुनावों और बुर्जुआ संसद के मंच का इस्तेमाल परिस्थिति अनुसार और आवश्यकतानुसार कर सकती है। ऐसे इस्तेमाल को “टैक्टिकल” या कार्यनीतिक या रणकौशलात्मक इस्तेमाल कहा जाता है। लेकिन संसदीय मार्ग से, पूँजीवाद से समाजवाद में शान्तिपूर्ण संक्रमण असम्भव है। संसदीय चुनाव किसी भी सूत्र में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति (स्ट्रैटजी) नहीं हो सकता, केवल रणकौशल (टैक्टिक्स) के रूप में ही इसका इस्तेमाल हो सकता है।

लेनिनवादी समझ के ठीक विपरीत, दुनिया की सभी संशोधनवादी पार्टियाँ चवन्निया मेम्बरी बाँटा करती हैं, उनका पूरा ढाँचा पूरी तरह खुला हुआ और ढीला-पोला होता है। ज़ाहिर है कि जिन्हें क्रान्ति करनी ही न हो, वे पार्टियाँ ऐसा ही करेंगी। मजदूरों को धोखा देने के लिए वे क्रान्ति, समाजवाद, कम्युनिज़्म आदि शब्दों की जुगाली करती रहती हैं, लेकिन काम के नाम पर मजदूरों को केवल आर्थिक संघर्षों में उलझाये रखती हैं, चुनाव लड़कर संसदीय सुअरबाड़े में जाकर लोट लगाने के लिए जुगत भिड़ाती रहती हैं, पूँजीवादी नीतियों के रस्मी विरोध की कवायद करती हुई जनता को ठगती रहती हैं।

भारत में भी रेगे सियारों की ऐसी दर्जनों जमातें हैं, लेकिन इनमें भी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी, लिबरेशन) सर्वप्रमुख हैं। ये पार्टियाँ नाम तो मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन का लेती हैं, लेकिन इनके आराध्य हैं काउत्स्की, मार्तोव, अल ब्राउडर, टीटो, खुश्चेव और देड सियाओ-पिङ जैसे संशोधनवादी सरगना। भाकपा और भाकपा के नकली कम्युनिज़्म का गन्दा चेहरा तो काफ़ी पहले ही गंगा हो चुका है, अब भाकपा (मा-ले) की कलई भी खुलती जा रही है। संशोधनवादी और अतिवामपन्थी दुस्साहसवादी भटकावों से लड़े बिना भारत का मजदूर वर्ग अपनी क्रान्तिकारी पार्टी नये सिरे से खड़ी करने के काम को कत्तई अंजाम नहीं दे सकता। क्रान्तिकारी विचारधारा का मार्गदर्शन क्रान्ति की सर्वोपरि शर्त है। इसलिए ज़रूरी है कि भारत का मजदूर वर्ग असली और नकली कम्युनिज़्म के बीच फ़र्क करना सीखे। संशोधनवाद को सही ढंग से समझने के लिए, यूँ तो बहुत सारा मार्क्सवादी साहित्य मौजूद है, लेकिन मजदूर साथी खासकर ‘राज्य और क्रान्ति’, ‘सर्वहारा क्रान्ति और गृह्यार काउत्स्की’, ‘महान बहस’ (सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के खुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की बहस के दस्तावेज़) और राज्य एवं क्रान्ति के प्रश्न पर चीनी सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के कुछ चुनिन्दा दस्तावेज़ों का अध्ययन कर सकते हैं। बल्कि उन्हें ऐसा अवश्य ही करना चाहिए। ●

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में संशोधनवाद

इतिहास के कुछ ज़रूरी और दिलचस्प तथ्य

ऐसा नहीं है कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का चरित्र शुरू से ही संशोधनवादी रहा हो। पार्टी की गम्भीर विचारधारात्मक कमज़ोरियों, और उनके चलते बारम्बार होने वाली राजनीतिक गलतियों, और उनके चलते राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपना राजनीतिक वर्चस्व न कायम कर पाने के बावजूद, कम्युनिस्ट कृतारों ने साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी संघर्ष के दौरान बेमिसाल और अकूत कुर्बानियाँ दीं। कम्युनिस्ट पार्टी पर मज़दूरों और किसानों का पूरा भरोसा था।

1951 में तेलंगाना किसान संघर्ष की पराजय के बाद का समय वह ऐतिहासिक मुक़ाम था, जब, कहा जा सकता है कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का वर्ग-चरित्र गुणात्मक रूप से बदल गया और सर्वहारा वर्ग की पार्टी होने के बजाय वह बुर्जुआ व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति बन गयी। वह कम्युनिस्ट नामधारी बुर्जुआ सुधारवादी पार्टी बन गयी। लेकिन ऐसा रातोंरात और अनायास नहीं हुआ। पार्टी अपने जन्मकाल से ही विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर थी और कभी दक्षिणपन्थी तो कभी “वामपन्थी” (ज़्यादातर दक्षिणपन्थी) भटकावों का शिकार होती रही।

1920 में ताशकन्द में एम.एन. राय व विदेश स्थित कुछ अन्य भारतीय कम्युनिस्टों की पहल पर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। लेकिन देश के अलग-अलग हिस्सों में काम करने वाले कम्युनिस्ट ग्रुप मूलतः अलग-अलग और स्वायत्त ढंग से काम करते रहे। पुनः 1925 में सत्यभक्त की पहल पर कानपुर में अखिल भारतीय कम्युनिस्ट कान्फ्रेंस में पार्टी की घोषणा हुई, लेकिन उसके बाद भी एक एकीकृत केन्द्रीय नेतृत्व के मातहत पार्टी का सुगठित क्रान्तिकारी ढाँचा नहीं बन सका। कानपुर कान्फ्रेंस तो लेनिनवादी अर्थों में एक पार्टी काँग्रेस थी भी नहीं। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में, मज़दूरों और किसानों के प्रचण्ड आन्दोलनों, उनके बीच कम्युनिस्ट पार्टी की व्यापक स्वीकार्यता एवं आधार, भगतसिंह जैसे मेधावी युवा क्रान्तिकारियों के कम्युनिज़्म की तरफ झुकाव और काँग्रेस की स्थिति (असहयोग आन्दोलन की वापसी के बाद का और स्वराज पार्टी का दौर) खराब होने के बावजूद कम्युनिस्ट पार्टी इस स्थिति का लाभ नहीं उठा सकी। यह अलग से विस्तृत चर्चा का

विषय है। मूल बात यह है कि विचारधारात्मक रूप से कमजोर एक ढीली-ढाली पार्टी से यह अपेक्षा की ही नहीं जा सकती थी। 1933 में पहली बार, कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल, ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के आग्रहपूर्ण सुझावों-अपीलों के बाद, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का एक स्वीकृत सुगठित ढाँचा बनाने की कोशिशों की शुरुआत हुई और एक केन्द्रीय कमेटी का गठन हुआ। लेकिन वास्तव में उसके बाद भी पार्टी का ढाँचा ढीला-ढाला ही बना रहा। पी.सी. जोशी के सेक्रेटरी होने के दौरान पार्टी प्रायः दक्षिणपन्थी भटकाव का शिकार रही तो रणदिवे के नेतृत्व की छोटी-सी अवधि अतिवामपन्थी भटकाव से ग्रस्त रही। पार्टी की विचारधारात्मक कमजोरी का आलम यह था कि 1951 तक पार्टी के पास क्रान्ति का एक व्यवस्थित कार्यक्रम तक नहीं था। 1951 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा इस विडम्बना की ओर इंगित करने और आवश्यक सुझाव देने के बाद, भारतीय पार्टी के प्रतिनिधिमण्डल ने एक नीति-निर्धारक वक्तव्य जारी किया और फिर उसी आधार पर एक कार्यक्रम तैयार कर लिया गया। यानी तीस वर्षों तक पार्टी अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व द्वारा प्रस्तुत आम दिशा के आधार पर राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की एक मोटी समझदारी के आधार पर ही काम करती रही। रूस और चीन की पार्टियों की तरह भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने देश की ठोस परिस्थितियों का - उत्पादन-सम्बन्धों और अधिरचना का ठोस अध्ययन-मूल्यांकन करके क्रान्ति का कार्यक्रम तय करने की कभी कोशिश नहीं की। इसके पीछे पार्टी की विचारधारात्मक कमजोरी ही मूल कारण थी और कार्यक्रम की सुसंगत समझ के अभाव के चलते पैदा हुए गतिरोध ने, फिर अपनी पारी में, इस विचारधारात्मक कमजोरी को बढ़ाने का ही काम किया।

तेलंगाना किसान संघर्ष की पराजय के बाद पार्टी नेतृत्व ने पूरी तरह से बुर्जुआ वर्ग की सत्ता के प्रति आत्मसमर्पणवादी रुख अपनाया। 1952 के पहले आम चुनाव में भागीदारी तक पार्टी पूरी तरह से संशोधनवादी हो चुकी थी। संसदीय चुनावों में भागीदारी और अर्थवादी ढंग से मजदूरों-किसानों की माँगों को लेकर आन्दोलन - यही दो उसके रूटीनी काम रह गये थे। पार्टी के रहे-सहे लेनिनवादी ढाँचे को भी विसर्जित कर दिया गया और इसे पूरी तरह से खुले ढाँचे वाली और ट्रेडयूनियनों जैसी चवन्निया मेम्बरी वाली पार्टी बना दिया गया। सोवियत संघ में खुश्चेवी संशोधनवाद के हावी होने और 1956 की बीसवीं कांग्रेस के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवाद को अन्तरराष्ट्रीय प्रमाण पत्र भी मिल गया। 1958 में अमृतसर की विशेष कांग्रेस में पार्टी संविधान की प्रस्तावना से, सर्वसम्मति से, क्रान्तिकारी हिंसा की अवधारणा को निकाल बाहर करने के बाद पार्टी का संशोधनवादी दीक्षा-संस्कार पूरा हो गया।

लेकिन अब पार्टी के संशोधनवादी ही दो धड़ों में बँट गए। डांगे-अधिकारी-राजेश्वर राव आदि के नेतृत्व वाले धड़े का कहना था कि कांग्रेस के भीतर और बाहर के रूढ़िवादी बुर्जुआ वर्ग का विरोध करते हुए नेहरू के नेतृत्व में प्रगतिशील

राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा कर रहे हैं अतः कम्युनिस्ट पार्टी को उनका समर्थन करना चाहिए, और इस काम के पूरा होने के बाद उसका दायित्व होगा संसद के रास्ते सत्ता में आकर समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देना। ये लोग राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की बात कर रहे थे, जबकि लोक जनवादी क्रान्ति की बात करने वाला सुन्दरैया-गोपालन-नम्बूदिरिपाद आदि के नेतृत्व वाला दूसरा धड़ा कह रहा था कि सत्तारूढ़ कांग्रेस साम्राज्यवाद से समझौते कर रही है और भूमि सुधार के वायदे से मुकर रही है, अतः जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के लिए हमें बुर्जुआ वर्ग के रैडिकल हिस्सों को साथ लेकर संघर्ष करना होगा। दोनों ही धड़े जनवादी क्रान्ति की बात करते हुए, सत्तासीन बुर्जुआ वर्ग के चरित्र का अलग-अलग आकलन करते हुए अलग-अलग कार्यकारी नतीजे निकाल रहे थे लेकिन दोनों के वर्ग-चरित्र में कोई फर्क नहीं था। दोनों ही धड़े संसदीय मार्ग को मुख्य मार्ग के रूप में चुन चुके थे। दोनों बोलशेविक सांगठनिक उसूलों व ढाँचे का परित्याग कर चुके थे और काउत्स्की, मातॉव और खुश्चेव की राह अपना चुके थे। फर्क सिर्फ यह था कि एक धड़ा सीधे उछलकर बुर्जुआ वर्ग की गोद में बैठ जाना चाहता था, जबकि दूसरा विपक्षी संसदीय पार्टी की भूमिका निभाना चाहता था ताकि रैडिकल विरोध का तेवर दिखलाकर जनता को ज़्यादा दिनों तक ठगा जा सके। एक धड़ा अर्थवाद का पैरोकार था तो दूसरा उसके बरक्स ज़्यादा जुझारू अर्थवाद की बानगी पेश कर रहा था। देश की परिस्थितियों के विश्लेषण और कार्यक्रम से सम्बन्धित मतभेदों-विवादों का तो वैसे भी कोई मतलब नहीं था, क्योंकि यदि क्रान्ति करनी ही नहीं थी तो कार्यक्रम को तो 'कोल्ड स्टोरेज' में ही रखे रहना था।

1964 में दोनों धड़े औपचारिक रूप से अलग हो गये। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) से अलग होने वाली भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के नेतृत्व ने भाकपा को संशोधनवादी बताया और कृतारों की नज़रों में खुद को क्रान्तिकारी सिद्ध करने के लिए खूब गरमागरम बातें कीं। लेकिन असलियत यह थी कि भाकपा भी एक संशोधनवादी पार्टी ही थी और ज़्यादा धूर्त और कुटिल संशोधनवादी पार्टी थी।

इस नयी संशोधनवादी पार्टी की असलियत को उजागर करने के लिए केवल कुछ तथ्य ही काफी होंगे। 1964 में गठित इस नयी पार्टी ने अमृतसर कांग्रेस द्वारा पार्टी संविधान में किये गये परिवर्तन को दुरुस्त करने की कोई कोशिश नहीं की। शान्तिपूर्ण संक्रमण की जगह क्रान्ति के मार्ग की खुली घोषणा और संसदीय चुनावों में भागीदारी को मात्र रणकौशल बताने की जगह इसने "संसदीय और संसदेतर मार्ग" जैसी गोल-मोल भाषा का अपने कार्यक्रम में इस्तेमाल किया जिसकी आवश्यकतानुसार मनमानी व्याख्या की जा सकती थी। आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में इसकी सोच मूलतः लेनिनवादी न होकर संघाधिपत्यवादियों एवं अर्थवादियों

जैसी ही थी। फ़र्क यह था कि इसके अर्थवाद का तेवर भाकपा के अर्थवाद के मुक़ाबले अधिक जुझारू था। इसके असली चरित्र का सबसे स्पष्ट संकेतक यह था कि भाकपा की ही तरह यह भी पूरी तरह से खुली पार्टी थी और सदस्यता के मानक भाकपा से कुछ अधिक सख्त लगने के बावजूद (अब तो वह भी नहीं है) यह भी चवन्निया मेम्बरी वाली 'मास पार्टी' ही थी।

ख़ुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का संघर्ष 1957 से ही जारी था, जो 1963 में 'महान बहस' नाम से प्रसिद्ध खुली बहस के रूप में फूट पड़ा और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन औपचारिक रूप से विभाजित हो गया। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के नेतृत्व ने पहले तो इस बहस की क़तारों को जानकारी ही नहीं दी। इस मायने में भाकपा नेतृत्व की पोज़ीशन साफ़ थी। वह डंके की चोट पर ख़ुश्चेवी संशोधनवाद के साथ खड़ा था। महान बहस की जानकारी और दस्तावेज़ जब क़तारों तक पहुँचने लगे तो माकपा-नेतृत्व पोज़ीशन लेने को बाध्य हुआ। पोज़ीशन भी उसने अजीबोगरीब ली। उसका कहना था कि सोवियत पार्टी का चरित्र संशोधनवादी है लेकिन राज्य और समाज का चरित्र समाजवादी है। साथ ही उसका यह भी कहना था कि ख़ुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध करने वाली चीनी पार्टी "वाम" संकीर्णतावाद व दुस्साहसवाद की शिकार है। अब यदि मान लें कि साठ के दशक में सोवियत समाज अभी समाजवादी बना हुआ था, तो भी, यदि सत्ता संशोधनवादी पार्टी (यानी सारतः पूँजीवादी पार्टी) के हाथ में थी तो राज्य और समाज का समाजवादी चरित्र कुछेक वर्षों से अधिक बना ही नहीं रह सकता था। लेकिन माकपा अगले बीस-पच्चीस वर्षों तक (यानी सोवियत संघ के विघटन के समय तक) न केवल सोवियत संघ को समाजवादी देश मानती रही, बल्कि दूसरी ओर, धीरे-धीरे सोवियत पार्टी को संशोधनवादी कहना भी बन्द कर दिया। इसके विपरीत, माओ और चीन की पार्टी के प्रति उसका रुख प्रायः चुप्पी का रहा। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की उसने या तो दबी जुबान से आलोचना की, या फिर उसके प्रति चुप्पी का रुख अपनाया। चीन में माओ की मृत्यु के बाद तो मानो इस पार्टी की बाँछें खिल उठीं। वहाँ पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बाद देड सियाओ-पिङ और उसके चले-चाटियों ने समाजवादी संक्रमण विषयक माओ की नीतियों को पूरी तरह से तिलांजलि दे दी और "चार आधुनिकीकरणों" तथा उत्पादक शक्तियों के विकास के सिद्धान्त के नाम पर वर्ग सहयोग की नीतियों पर अमल की शुरुआत की। दुनिया के सर्वहारा वर्ग को ठगने के लिए उन्होंने पूँजीवादी पुनर्स्थापना की अपनी नीतियों को "बाज़ार समाजवाद" का नाम दिया। लेकिन इस नक़ली समाजवाद का चरित्र आज पूरी तरह बेनक़ाब हो चुका है। चीन में समाजवाद की सारी उपलब्धियाँ समाप्त हो चुकी हैं। कम्यूनों का विघटन हो चुका है। खेती और उद्योग में समाजवाद के राजकीय पूँजीवाद में रूपान्तरण के बाद अब निजीकरण और उदारीकरण की मुहिम बेलगाम जारी है। अब यह केवल समय

की बात है कि समाजवाद का चोंगा और नक़ली लाल झण्डा वहाँ कब धूल में फेंक दिया जायेगा।

माकपा और भाकपा अपने असली चरित्र को ढँकने के लिए आज चीन के इसी “बाज़ार समाजवाद” के गुण गाती हैं। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों के विरोध का जुबानी जमाखर्च करते हुए ये पार्टियाँ वास्तव में इन्हीं की पैरोकार बनी हुई हैं। बंगाल, केरल और त्रिपुरा में सत्तासीन रहते हुए वे इन्हीं नीतियों को लागू करती हैं, लेकिन केन्द्र में वे इन नीतियों के विरोध की नौटंकी करती हैं और भूमण्डलीकरण की बर्बरता को ढँकने के लिए उसे मानवीय चेहरा देने की, उसकी अन्धाधुन्ध रफ़्तार को कम करने की और नेहरूकालीन पब्लिक सेक्टर के ढाँचे को बनाये रखने की वकालत करती हैं। बस यही इनका “समाजवाद” है! ये पार्टियाँ कम्युनिज़्म के नाम पर मजदूर वर्ग की आँखों में धूल झोंककर उन्हें वर्ग-संघर्ष के रास्ते से विमुख करती हैं, उन्हें मात्र कुछ रियायतों की माँग करने और आर्थिक संघर्षों तक सीमित रखती हैं, संसदीय राजनीति के प्रति उनके विभ्रमों को बनाये रखते हुए उनकी चेतना के क्रान्तिकारीकरण को रोकने का काम करती हैं, तथा उनके आक्रोश के दबाव को कम करने वाले ‘सेफ़्टीवॉल्व’ का तथा पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति का काम करती हैं।

आज साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का विरोध करने का बहाना बनाकर ये संशोधनवादी रंगे सियार कांग्रेस की अगुवाई वाले गठबन्धन सरकार के खम्भे बने हुए हैं। ये संसदीय बातबहादुर भला और कर भी क्या सकते हैं? फ़ासीवाद का मुक़ाबला करने के लिए मेहनतकश जनता की जुझारू लामबन्दी ही एकमात्र रास्ता हो सकती है, लेकिन वह तो इनके बूते की बात है ही नहीं। ये तो बस संसद में गते की तलवारें भाँज सकते हैं, कभी कांग्रेस की पूँछ में कंधी कर सकते हैं तो कभी तीसरे मोर्चे का घिसा रिकार्ड बजा सकते हैं।

शेर की खाल ओढ़े इन छद्म वामपन्थी गीदड़ों की जमात में भाकपा और माकपा अकेले नहीं हैं। और भी कई नक़ली वामपन्थी छुटभैये हैं और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के बीच से निकलकर भाकपा (मा-ले) लिबरेशन को भी इस जमात में शामिल हुए पच्चीस वर्षों से भी कुछ अधिक समय बीत चुका है।

1967 में नक्सलबाड़ी किसान उभार ने माकपा के भीतर मौजूद क्रान्तिकारी क़तारों में ज़बरदस्त आशा का संचार किया था। संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद के बाद एक शानदार नयी शुरुआत हुई ही थी कि उसे “वामपन्थी” दुस्साहसवाद के राहु ने ग्रस लिया। भाकपा (मा-ले) इसी भटकाव के रास्ते पर आगे बढ़ी और खण्ड-खण्ड विभाजन की त्रासदी का शिकार हुई। कुछ क्रान्तिकारी संगठनों ने क्रान्तिकारी जनदिशा की पोज़ीशन पर खड़े होकर “वामपन्थी” दुस्साहसवाद का विरोध किया था, वे भी भारतीय समाज की प्रकृति और क्रान्ति की मंज़िल के बारे में अपनी ग़लत समझ

के कारण जनता के विभिन्न वर्गों की सही क्रान्तिकारी लामबन्दी कर पाने और वर्ग-संघर्ष को आगे बढ़ा पाने में विफल रहे। नतीजतन ठहराव का शिकार होकर कालान्तर में वे भी बिखराव और संशोधनवादी विचलन का शिकार हो गये। भाकपा (मा-ले) (लिबरेशन) पच्चीस वर्षों पहले तक “वामपन्थी” दुस्साहसवादी लाइन का शिकार था। पर उसके पिट जाने के बाद धीरे-धीरे रंगते-घिसतते आज दक्षिणपन्थी भटकाव के दूसरे छोर तक जा पहुँचा है और आज खाँटी संसदवाद की बानगी पेश कर रहा है।

भाकपा (माओवादी) आज “वामपन्थी” दुस्साहसवाद के भटकाव का प्रतिनिधित्व कर रहा है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु को बदनाम कर रहा है। अन्य कई सारे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन हैं जो अलग-अलग अंशों में संशोधनवादी भटकावों-विच्युतियों के शिकार हैं और भारतीय समाज के पूँजीवादी चरित्र की असलियत को समझने के बजाय आज भी नई जनवादी क्रान्ति के चरखे पर “मार्क्सवादी” नरोदवाद का सूत काते जा रहे हैं। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर आज लम्बे गतिरोध का शिकार होकर विघटित होने के मुकाम तक जा पहुँचा है। हालाँकि आज भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्त्वों की सबसे बड़ी तादाद इसी धारा के संगठनों में मौजूद हैं, लेकिन इन संगठनों को एकजुट करके आज एक सर्वभारतीय पार्टी का पुनर्गठन एक असम्भवप्राय काम हो चुका है। अब नये सिरे से मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सुसंगत एवं गहरी समझ तथा भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम की सही समझ के आधार पर एक क्रान्तिकारी पार्टी का नये सिरे से निर्माण करके ही भारत में सर्वहारा क्रान्ति को अंजाम तक पहुँचाया जा सकता है।

इसके लिए हमें क्रान्ति की कृतारों में नई भर्ती करनी होगी, उनकी क्रान्तिकारी शिक्षा-दीक्षा और व्यावहारिक प्रशिक्षण के काम को लगन और मेहनत से पूरा करना होगा, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को संशोधनवादियों और अतिवामपन्थी कठमुल्लों का पुछल्ला बने रहने से मुक्त होने का आह्वान करना होगा और इसके लिए उनके सामने क्रान्तिकारी जनदिशा की व्यावहारिक मिसाल पेश करनी होगी। लेकिन इस काम को सार्थक ढंग से तभी अंजाम दिया जा सकता है जबकि कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास से सबक लेकर हम अपनी विचारधारात्मक कमजोरी को दूर कर सकें और बोलशेविक साँचे-खाँचे में तपी-ढली पार्टी का ढाँचा खड़ा कर सकें। संशोधनवादी भितरघातियों के विरुद्ध निरन्तर समझौताहीन संघर्ष के बिना तथा मजदूर वर्ग के बीच इनकी पहचान एकदम साफ़ किये बिना हम इस लक्ष्य में कदापि सफल नहीं हो सकते। बेशक हमें अतिवामपन्थी भटकाव के विरुद्ध भी सतत संघर्ष करना होगा, लेकिन आज भी हमारी मुख्य लड़ाई संशोधनवाद से ही है।